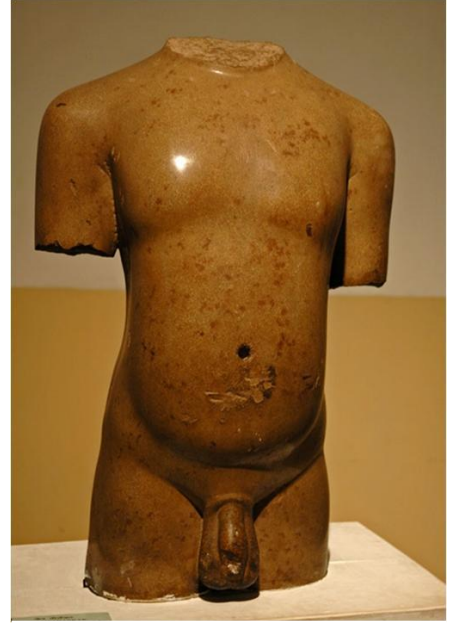


## सचित्र जैन पाण्डुलिपियाँ एक कलात्मक अध्ययन संदर्भ आदिपुराण

### प्रस्तावना —

मनुष्य की जिज्ञासा और आवश्यकताओं ने नित्य उपयोग की वस्तुओं का अविष्कार करने पर प्रोत्साहित किया तो उसके सौन्दर्य व कल्पनाशक्ति ने उसे वस्तुओं को सुन्दर बनाने के लिये प्रेरित किया। जैन संस्कृति आत्मा के उत्कर्ष से उत्पन्न हुई है, इसलिये उसकी कला का हर अंग आध्यात्म से जुड़ा हुआ है। जैन कला के इतिहास से पता चलता है कि उसने विविध शैलियों का खूब प्रयोग किया। जैन धर्म में भक्ति-भावना के वश होकर मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण किया गया, लेकिन फिर भी मूर्तियों को श्रृंगारिकता से दूर रखा गया एवं वैराग्य भावना को जागृत रखने के लिये चित्रकला का प्रयोग हुआ, जितने अंशों में यह प्रवृत्ति आवश्यकता एवं उपयोगिता से प्रभावित हुयी उसने उपयोगी कलाओं और शिल्पों का रूप ले लिया, जिसने मनुष्य की भौतिक सुख-सुविधाओं को जन्म दिया। मनुष्य की इस प्रवृत्ति और उसके अस्तित्व में आने वाली उसकी विविध रचनाओं और निर्मितियों को कला संज्ञा दी गयी, जिसके सामान्य लक्षण है स्वयं के अन्तर्मन की अभिव्यक्ति, प्रभावक सौन्दर्य और आनन्द प्रदान करने की क्षमता। भारतीय कला के इतिहास में जैनकला का बहुत योगदान है। जैन भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख अंग है। भारतवर्ष को अनादिकाल से विभिन्न धर्मों का देश कहा जाता है जिसमें अनेक देवी-देवताओं का उद्भव होता आया है एवं अनादिकाल से अनेक धर्म, मत, मतान्तर तथा धार्मिक विचारधारायें प्रचलित रही हैं जो मानव को संसार के बंधन से मुक्त करके आधात्मिकता की ओर ले जाने में संलग्न रही है। यदि जैनधर्म की प्राचीनता के बारे में खोज करें तो सर्वप्रथम हमें सिन्धु घाटी सभ्यता की ओर जाना होगा। यह भारत की प्राचीनतम सभ्यता है और विद्वानों ने इसमें कुछ ऐसे तत्व पाये हैं जो जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। वहाँ से प्राप्त एक नग्न प्रस्तर प्रतिमा की विशेष रूप से चर्चा की जाती है जिसका सिर एवं कमर से नीचे का भाग लुप्त है। परन्तु वह नग्नता इस प्रकार की है जैसे आधुनिक युग के जैन तीर्थकरों की नग्न प्रतिमाओं में मिलती है। यह प्रतिमा लगभग ईसा से 3000 वर्ष पूर्व की है जो पटना लोहानीपुर से मिली जिन



चित्र संख्या 1

3000 ईसा पूर्व नग्न प्रस्तर प्रतिमा,  
लोहानीपुर, पटना म्यूजियम  
नाप - 67 से.मी.

प्रतिमा है।<sup>1</sup> (चित्र संख्या-1) इसके पश्चात और भी कई अवशेष बिहार में मिले हैं जो कि जैन धर्म की प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप चित्र हैं।

किसी भी देश व समाज की सभ्यता के विकास के इतिहास के लिये, उस देश के समाज की कला के विकास को जानना आवश्यक है। जैन धर्म में जीवन के समस्त पक्षों पर ध्यान दिया गया है। जैन परम्परा में निवृत्ति प्रदान की जाती है। कला की साधना का उसमें सदैव समुचित स्थान रहा है। प्राचीन जैन साहित्य समवायांग, औपपातिक, आदि में 72 कलाओं का उल्लेख हुआ है, जिसमें प्रायः उपयोगी एवं ललित कलाओं का समावेश है।<sup>2</sup>

जैन धर्म भारत का प्रमुख धर्म है। जैन धर्म की परम्परा के महापुरुष समस्त प्राणियों में समान भावना रखते थे। जैन धर्म के महापुरुषों को आध्यात्मिक गुणों से युक्त होने के कारण उन्हें 'अर्हत' कहा जाता है तथा धर्मरूपी तीर्थों के संस्थापक होने के कारण वे तीर्थकर कहलाते हैं। उनके बाहर भीतर किसी भी प्रकार की दुष्प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये वे निर्ग्रन्थ कहे जाते हैं। उन्होंने अपनी विषय-वासनाओं को जीत लिया है। इसलिये वो जिन कहलाये, ऐसे जिन द्वारा प्रवर्तित धर्म को जैन धर्म कहा गया है।

कला के क्षेत्र में जैन धर्म का योगदान भारतीय परम्परा का एक अभिन्न अंग है। यह कल्पना करना कठिन है कि किसी भी जैन कलाकृति का सम्बन्ध भारतीय कला की मुख्य धारा से नहीं है। उसे इस धारा से अलग करके देखा जा सकता है। भारत की सांस्कृतिक धरोहर को जैन धर्म ने समृद्ध किया। देश के सांस्कृतिक भण्डार को स्थापत्य मूर्तिकला तथा चित्रकला की अगणित कृतियों से सम्पन्न किया। अनेक जैन कलाकृतियाँ भव्यता और कलागरिमा की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। जैन कला और स्थापत्य की पृष्ठभूमि का उद्देश्य आत्मा को परमात्मा के रूप में विकसित करना और भक्तों के मन में पवित्रता, शान्ति व श्रद्धालू जीवन के साथ सादगी तथा त्याग भावना उत्पन्न करना है। जैन धर्म की आत्मा उसकी कला में स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। धर्म को भावनात्मक और लोकप्रिय रूप से उत्पन्न करने के लिये कला की विभिन्न कलाकृतियों के निर्माण की आवश्यकता हुयी। जैन धर्म की प्राचीनता को विद्वानों ने ऋग्वेद तथा सिन्धु घाटी सभ्यता के अवशेषों में भी खोज निकालने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त ध्यानासन में दर्शायी गयी। एक योगी की भी आकृति प्राप्त हुयी है जिसे शिव का परारूप कहा गया है। यह मूर्ति ध्यानस्त तीर्थकर से मेल खाती है।

जैन धर्म में आदर्श को चरितार्थ किया गया है। अन्य मुख्य धर्मों की तरह जैन दर्शन साहित्य, स्थापत्य और मूर्तिकला का, भारतीय संस्कृति के प्रति विशेष योगदान है। कलकत्ता में सन् 1784 में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना से भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का शोध

कार्य व्यवस्थित रूप से प्रारम्भ हुआ।<sup>3</sup> पहले अनेक वर्षों तक सोसाइटी ने अपना ध्यान मुख्यतः वैदिक पौराणिक साहित्य तथा बौद्ध धर्म पर केन्द्रित रखा लेकिन जैन साहित्य और कला पर बहुत बाद में विद्वानों का ध्यान गया। मथुरा के कंकाली टीला नामक प्राचीन स्थल के उत्खनन से अनेक तीर्थकर प्रतिमायें, अलंकृत अयागपट्ट तथा इमारती पत्थर उपलब्ध हुये हैं। कंकाली टीला से प्राप्त अभिलिखित अवशेषों से यह ज्ञात हुआ कि बौद्ध स्तूप और चैत्यों से पहले भारत में जैन स्तूप भी निर्मित होते थे। पुरातात्विक साक्ष्यों से यह बात सामने आयी कि जैन और बौद्ध सांस्कृतियाँ भिन्न हैं। जैन परम्परा के अनुसार यह धर्म शाश्वत है और चौबीस तीर्थकरों द्वारा अपने युग में, प्रतिपादित होता रहा है। जिसमें प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव थे और अंतिम तीर्थकर वर्धमान महावीर। भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि में जहाँ तक कला का सम्बन्ध है। अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय लेखकों ने कला का विवेचना करते हुये उसे हिन्दू बौद्ध तथा जैन संज्ञाओं के अन्तर्गत रखा है। कला के आदर्श देशकाल जाति, वर्ण आदि से परे हैं।

वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीत तथा नाट्यकलाओं में स्थानीय भेदों का मिलना स्वाभाविक है। विभिन्न धर्मों का प्रभाव भी उनमें देखा जा सकता है, परन्तु ललित कला के मूल आदर्श सभी धर्मों की कलाओं में विद्यमान है। कुछ जैन ग्रन्थ जैसे कल्पसूत्र, अंगविज्जा, निशीथचूर्णि आदि में स्थापत्य मूर्तिकला चित्रकला तथा संगीत से सम्बन्धित अनेक विवरण मिलते हैं। शक, कुषाण व गुप्तकाल की जैनकला में मौलिकता तथा सौम्यता दर्शनीय है। ई० प्रथम शती से तृतीय शती तक निर्मित जैन स्तूप के चारों ओर बनायी गयी वेदिका का भारतीय कला इतिहास में विशेष महत्व है।<sup>4</sup>

मथुरा के जैन स्तूप पर उकेरी गयी विभिन्न मानव प्रतिमायें, कथा, चित्र तथा प्राकृतिक दृश्य आरम्भिक भारतीय कला में विशिष्ट स्थान रखते हैं। जैने साहित्य धर्म तथा दर्शन की भाँति जैन कला पर भी धर्म की मान्यताओं एवं उच्च आदर्शों का प्रभाव रहा। इसी विशेष गुण के कारण जैन कला आडम्बर विहिन रही। भारतीय चित्रकला के पीछे एक महान परम्परा रही है। जैन चित्रकला की आज उपलब्ध प्राचीनतम कृतियाँ पल्लवकालीन हैं। पल्लववंशी शासक महेन्द्र वर्मा प्रथम एक महान कलाकार, मूर्तिकार और चित्रकार, संगीतज्ञ, कवि और कला प्रेमी था। वह जैन धर्मानुयायी था, परन्तु सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शैव संत तिरुनावुक्करशु अथवा अप्पर ने उस शैव कला में दीक्षित कर दिया<sup>5</sup>, जिन्हें श्रद्धा के साथ तिरुज्ञान सम्बन्ध अर्थात् बाल वेदपाठी के नाम से भी जाना जाता है। यह सत्य है कि महेन्द्र वर्मा ही वह पहला व्यक्ति था जिसने दक्षिण में शैलोत्कीर्ण स्थापत्य का आरम्भ किया। वह चित्रकारपुली अर्थात् चित्रों में सिंहों की उपाधि से विभूषित था।



चित्र संख्या-2  
6वीं से 10वीं शताब्दी ऐलोरा गुफा

जैन साहित्य के उल्लेखों से प्रमाणित है कि जैन परम्परा में चित्रकला का प्रचार अति प्राचीनकाल में हो चुका था और यह कला सुविकसित हो चुकी थी। ऐलोरा की जैन गुफाओं में भी जैन मूर्तियों प्राप्त हुयी हैं।<sup>6</sup> चित्र संख्या-2 10वीं व 11वीं शताब्दी में चित्रकला को खूब पुष्ट किया गया। तिरुमलाई के जैन मन्दिर में भी चित्रकारी के सुन्दर उदाहरण विद्यमान है<sup>7</sup> (चित्र संख्या-3) जैन चित्रकला कुछ अर्थों में एकदम नवीन एवं पूर्ण क्रान्तिकारी शैली थी, जिसने चित्रकला के विकास में शैली थी, जिसने चित्रकला के विकास में एक नया ही प्रकरण जोड़ा है।



चित्र संख्या 3  
15वीं से 17वीं शताब्दी पोल्लोर, तिरुमलाई जैन मन्दिर, तमिलनाडु

जैन चित्रों को पहले संकड़ी, आयताकार, छोटी सी ताड़पत्रों की भूमि मिली, फिर कागज के निर्माण के बाद चौदहवीं शती में थोड़े-थोड़े बड़े आकार की कागज की भूमि मिली।<sup>8</sup> इन दोनों धरातलों को बनाने का तरीका भिन्न था। जैन कलाकारों ने जिस कला की उद्भावना की वह दोनों छोर को जोड़ती है। जैन शैली में देशी व विदेशी कला के कई तत्वों का मिश्रण हुआ है। जैन चित्रकला, भाव अभिव्यक्ति का सुन्दरतम उदाहरण है। उसमें उपदेश और संदेश देने की अनूठी क्षमता है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को अच्छे से समझा और प्रारम्भ से ही इस ओर अपनी प्रतिभा को प्रेरित किया। आरम्भ में जैन विषय ही सामने आये। ये चित्र निशीथचूर्णि, अंगसूत्र,

कथारत्नसागर, संग्रहणी सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, कालकाकथा, कव्यसूत्र व नेमिकाथचरित्र आदि श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय से सम्बन्धित थे।<sup>9</sup> गुजरात व राजस्थान इसके प्रमुख केन्द्र थे। जैन भण्डारों में बहुत अधिक मात्रा में संग्रहित पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं। विशेषकर पश्चिम भारत में और थोड़ी बहुत मात्रा में दक्षिण भारत में इन पाण्डुलिपियों पर सूक्ष्म चित्रकारी की गयी है। जैनाचार्यों व कवियों ने जो लिखा उसका विषय तो सुन्दर था ही, उन्होंने हस्तलेख भी सुन्दर बनाये और हस्तलिखित कृतियाँ भी विषयानुकूल चित्र अंकित करके सुन्दर बनायी हैं। दसवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की महायान शाखा से सम्बन्धित कुछ पोथियों का लेखन चित्रांकन के साथ देखा जाता है। बंगाल, बिहार और नेपाल चित्रांकन की इस शैली के केन्द्र रहे हैं। अजंता की परम्परा होते हुये भी वहीं का शैलीगत पुष्ट प्रभाव नहीं है लेकिन 11वीं शती<sup>10</sup> और उसके बाद के जैन धर्म सम्बन्धी ऐसे अनेक सचित्र ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनका चित्रकला के साथ ऐतिहासिक महत्व भी है।

जैन धर्म का केवल भारत बल्कि भारतवर्ष के बाहर भी प्रचार करने का प्रयास किया गया। इसके साथ ही साथ विभिन्न संघ, गण तथा जातियों की उत्पत्ति हुयी। कला के प्रति सामान्यतः देवत्व पूजन एवं पूजा स्थलों के प्रति एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति रही है कि एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में किसी ऐसे ईश्वर का अस्तित्व है जिसमें विश्व को संजोय रखने की शक्ति है जो इस जगत के सारे प्राणियों के भाग्य का निर्णय करता है। जैन धर्म इस बात पर इतना विश्वास नहीं करता बल्कि इस बात पर कि धर्म के मार्ग का अनुसरण कर जो भी अपनी उन्नति करना चाहता है उसके लिये ईश्वर एक आदर्श हैं। हम में से प्रत्येक की आत्मा अनादिकाल से कर्मों के बंधन में जकड़ी हुयी है। कर्म अपनी प्रकृति के अनुसार अपना फल स्वयं ही देते हैं। उनके अच्छे बुरे फलों को भोगने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। ईश्वर का इसमें कोई हाथ नहीं होता। जैन धर्म में देवत्व की उपासना कोई वरदान प्राप्त करने या संकटों से छुटकारा पाने के लिये नहीं की जाती बल्कि इसलिये कि उपासक अपने में उन महान गुणों को प्राप्त कर सकें जो कि परमात्मा में पाये जाते हैं। भारत के अन्य धर्मों के समान जैन धर्म में भी प्रारम्भ से ही अनेक मतान्तर हुये, जैन कला के प्राचीन अस्तित्व की खोज निकालने के लिये जब हमारा ध्यान उसके ऐतिहासिक महत्व की ओर जाता है तो हमें लगता है कि उसकी महानता ने केवल उसके विषय-विन्यास के कारण है। अपितु भारतीय चित्रकला के इतिहास में कागज पर की गयी चित्रकारी के दिशा में उसका पहला स्थान है। राजपूत परम्परा की भाँति जैनकला ऐसी प्राचीन परम्परा पर आधारित है जो राजपूत कलम से प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन चित्रों से भी एक शताब्दी पहले की सिद्ध होती है। ताड़पत्र पर अंकित 'कल्पसूत्र' तथा 'कालकाचारकथा' के आधार पर

निर्मित पार्श्वनाथ नेमिनाथ और ऋषभनाथ तथा अन्य बीस तीर्थंकर महात्माओं के दृष्टान्त चित्र जैनकला के सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण हैं।

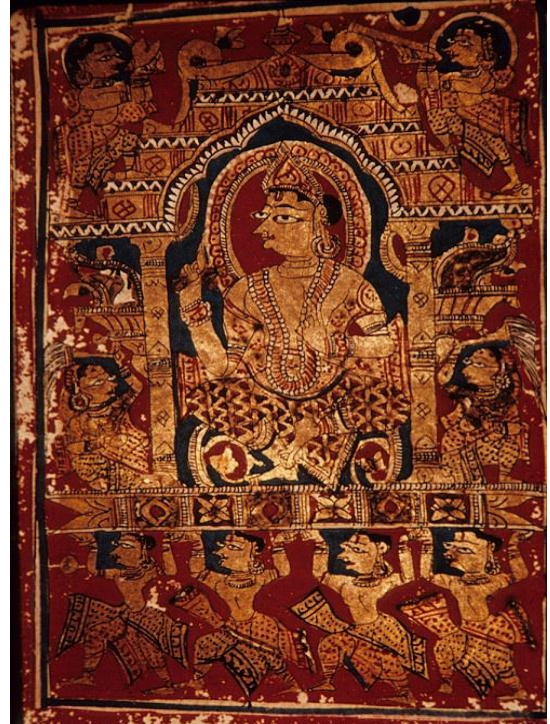
जैन चित्रकला की उपलब्धि 7वीं शताब्दी से है, जिसके प्रमाण, सम्राट हर्ष के समकालीन राजा पल्लव महेन्द्रवर्मन (7वीं सदी) के समय में निर्मित सित्तनवासल गुफा की पाँच जिनमूर्तियाँ हैं।<sup>11</sup> भारतीय चित्रशैलियों में 15वीं सदी से पूर्व जितने भी चित्र प्राप्त हैं। उन सब में मुख्यता और प्राचीनता जैन चित्रों की है। ये दिगम्बर जैन से सम्बन्धित हैं जिन्हें अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को चित्रित कराने एवं करने का बड़ा शौक था। अनेक उत्कृष्ट जैन कलाकृतियों ने भारतीय कला को गौरव प्रदान किया एवं प्रसिद्धि दिलायी। नागौर, जोधपुर, बीकानेर, खेरडी, आदि नगरों एवं गाँवों में बहुत से जैन सचित्र पुस्तकें रची गयी। गुजरात में खंभात, पाटण, अहमदाबाद व सूरत जैन चित्र, रचना के प्रमुख केन्द्र रहे हैं। जैन कलाकारों की निपुणता का दर्शन ताड़पत्रीय पोथियों में देखने को मिलता है। अजंता वाघ एलोरा से प्रस्थापित भित्ती चित्र परम्परा समाप्त होने के पश्चात लगभग दसवीं ई0 शताब्दी से भारतीय चित्रकला में ऐसा मोड़ आया कि चित्रों का निर्माण भित्तियों के स्थान पर ताड़पत्रों पर होने लगा पश्चिमी भारत से प्राप्त चित्रित पाण्डुलिपियाँ मुख्यतः जैनधर्म से सम्बन्धित थी। इनमें से आरम्भिक ग्रन्थ ताड़पत्रों पर लिखे गये।<sup>12</sup> ताड़पत्र और कागज पर बने चित्रों में एक अन्तर स्पष्ट है कि ताड़पत्रों पर जो चित्र बनाये जाते थे स्थानाभाव के कारण उनमें रेखाओं की बारीकी और कलाकार की प्रतिभा का कौशल देखने को मिलता है, किन्तु कागज पर बने चित्रों में स्थान होने के कारण सूक्ष्मता एवं प्रतिभा का दर्शन मंद पड़ गया। कपड़े पर निर्मित चित्र हम्जानामा के एक अनुपम उदाहरण है। उस समय के जिस समय भारत में सुन्दर कागज के अभाव से चित्रों को निर्मित करने के लिये कपड़े का आश्रय लिया गया था। यह स्थिति लगभग 10वीं 11वीं शताब्दी तक बनी रही तदनन्तर 12वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी की सहस्त्रों कागज की पोथियाँ विभिन्न संग्रहों में आज भी सुरक्षित हैं।<sup>13</sup>

सचित्र जैन पाण्डुलिपियाँ एवं दीर्घ अवधि तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में मुख्यतः राजस्थान गुजरात एवं उत्तर भारत में तैयार की जाती रही। इन आरम्भिक जैन कलाकृतियों को कुछ विद्वानों ने प्रारम्भिक पश्चिमी शैली कहा कुछ ने गुजराती शैली और कुछ ने अपभ्रंश शैली के नाम से सम्बोधित किया है। आरम्भ में इस शैली के चित्रों को 'जैन शैली' के नाम से कहा गया, किन्तु जब इसी प्रकार के चित्र मालवा, राजस्थान और गुजरात में दूसरे सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भी व्यापकता से पाये गये तो उनका निश्चित नामकरण एक समस्या बन गया। इसलिये इस शैली को गुजरात शैली कहा जाना अधिक उपयुक्त समझा गया।

रायकृष्णदास ने इस शैली के चित्रों को अपभ्रंश शैली के नाम से कहना अधिक उपयुक्त समझा। इस सम्बन्ध में उनका कथन है कि जब इन चित्रों का आलेखन कोई नया उत्थान नहीं प्राचीन शैली की विकृति मात्र है तो 'अपभ्रंश' ही एक ऐसा शब्द है जिसके द्वारा उन विकृतियों की समुचित व्यंजना हो सकती है।<sup>14</sup>

इसके पूर्व भी यद्यपि पट्टों की चित्रांकन परम्परा के उल्लेख मिलते हैं। उत्तरवर्ती काल की ताड़पत्रीय एवं कागजीय श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों आम्नायों सम्बन्धी अनेकों सचित्र पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुयी है। इन सबको देखकर सहज ही यह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर पाण्डुलिपियों में कल्पसूत्र की जो लोकप्रियता प्राप्त हुयी है। दिगम्बर पाण्डुलिपियों में वही लोकप्रियता 'आदिपुराण' को मिली है।

कल्पसूत्र की एक प्रति जो अहमदाबाद में सुरक्षित है। इतने महत्व की प्रमाणित हो चुकी है कि उसका मूल्य सवा लाख रूपये तक आँका जा चुका है।<sup>15</sup> चित्र संख्या-4 भारतीय नाट्य संगीत और चित्रकला तीनों दृष्टियों से उसका स्थान अपूर्व है। इन चित्रों में राग-रागिनी, तान आदि की योजना संगीत शास्त्र के अनुसार है जैन धर्म में कई ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ बन चुकी हैं।



चित्र संख्या-4

ग्रन्थ - कल्पसूत्र, 15वीं शताब्दी

माध्यम - स्याही और जल रंग, कागज पर स्वर्ण

माप : 11.1 x 27 से.मी.

संग्रह - University of Washington Library

अभी तक खोजों के आधार पर प्राचीनतम ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि, जैसलमेर के जैन भण्डार में स्थित 1060 ई0 की 'ओधनियुक्ति' प्राप्त हुयी है।<sup>16</sup>

लेखन-कार्य के लिये ताड़पत्र का स्थान कागज द्वारा लिये जाने से पूर्व की अवधि के पट-चित्र और ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं। बंसत विलास 1957 ई0 की सचित्र रचना है जो जैन शैली में चित्रित है।<sup>17</sup> यह ग्रन्थ शाह श्री चन्द्रपाल (सुपुत्र श्री शाहदेपाल) के अध्ययनार्थ आचार्य रत्नागार के द्वारा विक्रम संवत् 1508 में लिखा गया एवं चित्रित किया गया। इस ग्रन्थ में बंसत का सौन्दर्य कालीदास के ऋतुसंहार की शैली पर काव्यरूप में वर्णित है।

पट पर चित्रित 1433 ई० का एक 'जैन पंची तीर्थी' ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि है। जो पुस्तक भण्डार पाटन में है।<sup>18</sup> यह 30 फुट लम्बा और 32 इंच चौड़ा है जिसमें जैन तीर्थी के चित्र हैं। ताड़पत्रीय चित्र परम्परा के पश्चात हम ऐसे युग में पहुँचते हैं जब भारत में ताड़पत्रों के स्थान पर कागज का प्रयोग होने लगा था।

इसके अतिरिक्त डॉ० कुमारस्वामी ने हटमैन के एक लेख के आधार पर भी ललित कला के निम्न संग्राहलयों एवं पुस्तकालयों में स्थित 'कल्पसूत्र' की 15वीं शती की पाण्डुलिपियों का उल्लेख किया है।

1. वांशिगटन की फ्रायर गैलरी
2. फर बोल्कर कुन्दे का संग्राहलय, बर्लिन
3. बर्लिन की रायल लाइब्रेरी
4. कलकत्ता का नाहर संग्राहलय
5. पाटन और जैसलमेर के अनेक जैन पुस्तकालय<sup>19</sup>

सहस्रों की संख्या में जो पाण्डुलिपियाँ नष्ट भ्रष्ट हो चुकी हैं अथवा जो सात समुन्दर पार विदेशी जर्मनी, फ्रांस, इटली, ब्रिटेन अथवा हिमालय को लांघकर चीन मंगोलिया और तिब्बत आदि देशों में ले जायी जा चुकी हैं। वे तो अब अपने-अपने भाग्य पर जीवित रहने या मृत हो जाने के लिये विवश हैं किन्तु अभी लाखों की संख्या में जो पाण्डुलिपियाँ भारत में उपलब्ध हैं उनमें से अधिकांश का वैज्ञानिक सूचीकरण भी नहीं हो पाया है। उनके मूल्यांकन एवं प्रकाशन की बात तो अभी योजनों दूर ही है। इस कारण इतिहास के कुछ पक्ष अभी तक अविकसित ही पड़े हुये हैं। दसवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच और उसके बाद भी भारतीय चित्रकला की समृद्धि के लिये सर्वाधिक उल्लेखनीय योग जैन कलाकारों का रहा है। जैन शैली के चित्रों में आँखों की बनावट भी दर्शनीय है। यह चक्षु निर्माण शैली जनचित्रों की देन न होकर जैन शिल्प एवं स्थापत्य की देन है जिनको कि जैन प्रतिमाओं में देखा जा सकता है। राजपूत और मुगलकला में इस प्रकार चक्षु निर्माण बड़ा ही कौशलपूर्ण है। रंगों और रेखाओं की दिशा में भी जैन कलाकार बड़े सजग रहे हैं। ताड़पत्रों पर अंकित जैन चित्र प्रायः पीतरंग के हैं। स्वर्णरंग को भी उपयोग में लाया जाता था। रेखाओं का सबसे बड़ा उद्देश्य होता है भावों को व्यक्त करना।

15वीं शताब्दी में जैन धर्मानुयायी गृहस्थों ने जहाँ लाखों रूपया कला के निर्माण में व्यय किया, वही जैन मुनियों ने भी हजारों ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना एवं प्रतिलिपि करके ज्ञान भण्डारों



की समृद्धि में अपूर्व योग दिया है। इसी समय सोने की स्याही से बहुमूल्य चित्रों का निर्माण हुआ। कागज के चित्रों के हाशिये प्राकृतिक दृश्यों से इतने सुन्दर पहले सुसज्जित नहीं किये थे जितने की अब। राजपूत और मुगल कला शैलियों में जो बेल-बूटों की बनावट का गुणगान किया है। उसकी मूल प्रेरणा जैन चित्रों में सुरक्षित थी। जैन कलाकारों की एक विशेषता यह भी थी कि लिखते समय बीच-बीच में वे इस ढंग से स्थान छोड़ते जाते थे कि अपने आप छत्र, कमल, स्वास्तिक आदि उभर आते थे। चित्रों का आकार एक चश्म और दो चश्म है। एक चश्म या डेढ़ चश्म वाले चित्रों में ठोढ़ी सेब की तरह बाहर की ओर उभर आयी है। दो चश्म आकार के खड़े हुये जैन मुनियों की ठोढ़ी में त्रिशूल की भाँति तीन रेखायें और नासिका, भाल की नोंक की तरह अंकित है। जैन शैली के कागजीय चित्र प्राकृतिक दृश्यमय किनारियों से भी सुसज्जित हैं।

12वीं सदी के पूर्व जैन चित्रकला शिथिल पड़ गयी थी और मुगल शैली में तो उसके अस्तित्व सर्वथा ही मिट सा गया था। 12वीं सदी के बाद वह पुनर्जीवित हुयी। यह एक विचित्र संयोग की बात है कि महमूद गजनवी के विध्वंसों के बावजूद जैन चित्रकला आबू और गिरनार के केन्द्रों में अपने परिवेश के नवनिर्माण में अग्रसर थी। बाद में जैन चित्रकारों ने राजपूत और मुगल शैलियों से प्रेरणा ग्रहण कर अपने क्षेत्र को अधिक व्यापक बनाया। इतना ही नहीं बल्कि जैन चित्रकला गुजरात की श्वेताम्बर कलम से आरम्भ होकर राजपुताना में वर्षों तक अपना विकास करती रही और बाद में ईरानी प्रभावों से मुक्त होकर राजपूत कलम में ही लुप्त हो गयी।

अनेक बार यह देखने में आया है कि लोग अपने घरों में रखी पाण्डुलिपियों को किसी को देना नहीं चाहते। चित्र प्रतिलिपि बनाने के लिये भी नहीं। लाल वस्त्रों में बंधी सामग्री अनेक यहाँ पुरखों से चली आ रही है। वह उनके यहाँ पड़ी रहनी चाहिये यदि वह इनके यहीं से चली जायेगी तो कहीं उनका अनिष्ट न हो जाय इसलिये वे उन्हें किसी को देना नहीं चाहते। इसका एक उपाय निकाला गया। उनके यहाँ जाकर उनकी पाण्डुलिपियों की चित्र प्रतिलिपि (माइक्रोफिल्म) बना ली जाय। यह सिलसिला जब भारत सरकार के द्वारा चलाया गया तो लाखों पाण्डुलिपियों में कुछ की तो वीडियो एवं स्केन भी बन चुकी है व कुछ पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपि भी हो चुकी है। अब इनसे सम्बन्धित संगोष्ठियाँ भी होती हैं तथा विभिन्न पत्रिकाओं में लेख भी छपते हैं जो इस प्रकार हैं।

चित्रकला के विद्वान लेखकों की दृष्टि जैन चित्रकला पर तब केन्द्रित होनी प्रारम्भ हुयी जबकि सर्वप्रथम 1913 ई0 में डब्ल्यू हंटमैन का बैसलर आरकाइव्स में 'मिनिचेचर जिनचरित'

नामक लेख प्रकाशित हुआ जो कि बैरलिन में स्थित दो कल्पसूत्रों पर आधारित तथा चित्रित था।<sup>20</sup> सन् 1994 में डॉ० आनन्द कुमार स्वामी की दृष्टि भी जैन चित्रों की ओर आकृष्ट हुयी उन्होंने एक लेख निजी संग्रह की तीन पाण्डुलिपियों महत्ता तथा विशेषताओं को अंकित करते हुये लिखा है जिसके अन्तर्गत एक पाण्डुलिपि 'कल्पसूत्र' 1497 ई० की थी।<sup>21</sup> उक्त प्रमाण ने जैन चित्रकला के महत्व का बोध कराते हुये यह उद्घोषित किया कि भारतीय चित्रकला की लुप्त कड़ियाँ जैन चित्रकला को श्रृंखलाबद्ध करने में सक्षम है। 1927 ई० में "Studies in Indian Painting" नामक पुस्तक प्रकाशित हुयी। इसमें इन्होंने गुजरात प्रान्त से स्वयं खोजे हुये बंसत विसलास नामक ग्रन्थ के पटचित्रों तथा मूल पद्यमयी कथा को अतिरोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। श्रीमती सरयू दोषी ने अपने शोध ग्रन्थ में राजस्थान गुजरात के विभिन्न शास्त्र भण्डारों से प्राप्त दिग्म्बर जैन पाण्डुलिपियों के चित्रों का विश्लेषण एवं प्रतिपादन किया है। जैन धर्मावलम्बियों में प्राचीनकाल से ही दान देने की प्रवृत्ति महत्वपूर्ण है। चार प्रकार के श्रेष्ठ दानों में शास्त्रदान (ज्ञानदान) भी गिना जाता है। जैन व्यक्ति अपनी आय का एक अंश शास्त्र दान में व्यय करते थे और ग्रन्थागार भी स्थापित करवाते थे।

इस प्रकार आज भी वर्तमान में कई पाण्डुलिपियों को दोबारा प्रकाशित कराया जाता है तथा जीर्ण पाण्डुलिपियों की स्कैन कॉपी करायी जाती है। अपने शोध से सम्बन्धित मैंने बड़ौत स्थित शहजाद राय शोध संस्थान में श्री अमित राय जैन के निर्देशन में अध्ययन किया तथा अनेक निजी संग्रह में मैंने कई पुरानी जीर्ण पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ देखी इसके अतिरिक्त तेरापंधियान जैन बड़ा मंदिर जयपुर में भी कई पाण्डुलिपियों की प्रतिलिपियाँ देखी जो जैन समाज के द्वारा बनवायी गयी थी।

उपर्युक्त सामग्री के आधार का निष्कर्ष यह है कि जैन चित्रों की रचना का कार्य क्षेत्र (धार्मिक अथवा सांसारिक विषयों से सम्बन्धित) जैसलमेर से गुजरात तक सीमित था। वाचस्पति गैरोला के अनुसार भारत के अन्य अंचलों और द्वीपान्तरों में भी बड़े पैमाने पर जैन कला पल्लवित हुयी यद्यपि उनके कथानुसार मालवा, अहमदाबाद, माड़वाड़, पंजाब, जौनपुर, अवध, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, नेपाल, वर्मा तथा आसाम आदि में जैन शैली का अस्तित्व पाया जाता है। इस प्रकार जैन धर्मानुयायी द्वारा पल्लवित चित्रकला का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपूत और मुगल चित्रशैली से पूर्व इस दिशा में जो महत्वपूर्ण कार्य हो रहा था उसका एक मात्र श्रेय जैन

कलाकारों को है। भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में जैनधर्म ने ऐसी अनुपम सचित्र कृतियाँ दी है जो कला और साहित्य दोनों दृष्टि से महत्वपूर्ण है और अनादिकाल तक रहेगी।